‘पंडित होई सो हाट न चढ़ा’

प्रेम सिंह

(*किशन पटनायक (30 जुलाई 1930 - 27 सितंबर 2004) के निधन पर यह लेख उन्हें श्रद्धांजलि स्वरूप लिखा गया था। इसका संपादित अंश दो भागों में ‘जनसत्ता’ में प्रकाशित हुआ था। जनवरी 2005 का ‘सामयिक वार्ता’ का किशन पटनायक स्मृति विशेषांक ‘वैकल्पिक सभ्यता के स्वप्नद्रष्टा’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ गया था। उस विशेषांक में अन्य श्रद्धांजलियों के साथ यह लेख भी शामिल था। ज्यादातर पुराने साथियों ने यह लेख पढ़ा होगा। पिछले दो दशकों में एक पूरी पीढ़ी वयस्क हुई है। उनमें बहुत से उत्सुक पाठक हैं। उनके अध्ययन के लिए यह लेख यथारूप फिर से जारी किया गया है। पहली बार लेख का अंग्रेजी रूपांतर भी जारी किया गया है।*)

1

“आखिर बुद्धि या ज्ञान किसलिए? इसलिए कि मनुष्य समुदाय जिन समस्याओं और संकटों से रूबरू होता है उनको आयत्त किया जा सके। उनको समझने के लिए दिशा-दर्शन मिल सके। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की यह घोर विडंबना है कि साठ के दशक के बाद जितनी समस्याएं मनुष्य समाज में दिखाई पड़ रही हैं उनमें से किसी के बारे में नागरिकों को समझाने की क्षमता बुद्धिजीवियों में नहीं रह गई है। गरीबी, बीमारी, अशिक्षा, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, गुलामी, युद्ध, असम्मान और आत्महत्याएं इनमें से किसी एक भी समस्या से समाज को मुक्ति मिल पाने का दावा क्या भारत का यह धनी बुद्धिजीवी वर्ग कर सकता है, जो यह दिखावा कर रहा है कि किसी [नई] सहस्त्राब्दी में उसका प्रवेश हो रहा है।” किशन पटनायक

अब हमारे बीच किशन पटनायक नहीं हैं। उनके संघर्ष और विचारों की सारगर्भित विरासत हमारे पास है। श्रद्धांजलि-स्वरूप उस विरासत का स्मरण करना मुनासिब होगा। उन्होंने अपने विचार ज्यादातर ‘सामयिक वार्ता’ पत्रिका के माध्यम से सामने रखे हैं। ‘सामयिक वार्ता’ की शुरूआत किशन पटनायक ने 1977 में पटना से की थी। उससे पूर्व वे अपने राजनैतिक गुरु डॉ. राममनोहर लोहिया की दो पत्रिकाओं ‘जन’ और ‘मैनकाइंड’ से संबद्ध रहे थे। 1977 के साल को वे देश की राजनीतिक और देशीय विचारधारा के विकास के क्रम में विशेष महत्व का मानते हैं।

अपने राजनैतिक जीवन में भी वे इसकी एक रेखा स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि उसके बाद कोई एक व्यक्ति या नेता उनके जीवन का मार्गदर्शक नहीं रह जाता। सोचना उनके लिए जरूरी हो जाता है। उनकी यह सोच न केवल किसी एक विचारक या विचारधारा की मतवादी सीमाबद्धता से स्वतंत्र होकर उभरती और विकसित होती है, प्रचलित विचारों/विचारधाराओं/मान्यताओं - जो ज्यादातर आधुनिक सभ्यता की पूजा-भाव की हद तक

समर्थक हैं - के बरक्स भी अपनी स्वतंत्रता प्रमाणित करती है। अपने चिंतन में वे स्पष्टता और गहराई से आधुनिक सभ्यता, उसकी टेक्नॉलॉजी और विकास की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। किशन पटनायक चिंतन का स्वायत्त क्षेत्र निर्मित नहीं करते। बल्कि आधुनिक सभ्यता की समीक्षा भारत-सहित बाकी दुनिया की विशाल वंचित आबादी की हो चुकी और हो रही दुर्दशा और मानवीय गरिमा के क्षय के मद्देनजर करते हैं। किशन पटनायक की सभ्यता-समीक्षा वंचित आबादी के प्रति जवाबदेही, जिम्मेदारी और सरोकार के लक्ष्य से प्रेरित है। वे वास्तविक मायनों में बुद्धिजीवी की भूमिका का निर्वाह और निरूपण दोनों करते हैं।

उन्होंने अपना बौद्धिक कर्म एक राजनैतिक-कर्मी की हैसियत से संपन्न किया है। उनकी स्वीकारोक्ति है: ''मेरा अपना सोचने का ढंग राजनैतिक है। राजनीति में मेरी कोई उपलब्धि नहीं है। लेकिन समाज और दुनिया को समझने के लिए राजनैतिक कर्म एक बहुत बड़ा माध्यम प्रतीत हुआ है। विशेषकर विकाशसील देशों की विद्रोहात्मक राजनीति का आकलन करने के लिए यह अनुभव और समझदारी बहुत जरूरी है। संभवतः 20वीं सदी में जो श्रेष्ठ विचार और व्यवहार औपनिवेशिक देशों में दिखाई दिए थे, उन सबका निकट संपर्क राजनैतिक क्षेत्र से था। दबी हुई मनुष्यता के पुनरुत्थान की कठिन और अदम्य कोशिश का एक व्यापक क्षेत्र था - औपनिवेशिक देशों का विद्रोह। इस विद्रोह का विस्तार मानस में अभी तक है। उससे कई आधार बन गये हैं। उन आधारों को जीवित रखने की कोशिश साहित्य, शास्त्र और राजनीति में होनी चाहिए।''

यही कारण है कि आज के अधिकांश बुद्धिजीवियों की तरह वे प्रत्येक बुराई के लिए राजनीति और राजनेताओं को नहीं कोसते हैं। बल्कि इसके विपरीत वे बुद्धिजीवी-वर्ग को सारी समस्याओं के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। बुद्धिजीवी समूह के एक हिस्से के रूप में ही वे राजनेताओं की आलोचना करते हैं।

किशन पटनायक ने अपनी वैचारिक धारा को देशीय चिंतन के नाम से अभिहित किया है। देशीय चिंतन को व्यापक अर्थ वाला शब्द बताते हुए उसे किसी मतवाद से वे नहीं जोड़ते। गांधीवाद से भी नहीं। अलबत्ता गांधी को उसका संस्थापक स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं: ''शताब्दी-पुरूष के रूप में याद करने के लिए अमरीकी पत्रिका 'टाइम' ने नेलशन मंडेला से जो लेख लिखवाया उसमें मंडेला ने गांधी को 'देशीय बुद्धि, आत्मा और उद्योग के पुनर्जागरण का जनक' कहा है। मंडेला यह बात सारी दुनिया के संदर्भ में कहता है - ''जब औपनिवेशिक मनुष्य ने सोचना छोड़ दिया था और उसका समर्थ होने का अहसास लुप्त हो चुका था, गांधी ने उसे सोचना सिखाया और उसके सामर्थ्य के अहसास को पुनरुज्जीवित किया।'' इस देशीय चिंतन की कसौटी पर वे भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग के ज्ञान और भूमिका का आकलन करते हैं। उनके लेखन का यह एक महत्वपूर्ण आयाम है, जिसे उन पर लिखने वाले और बात करने वाले बचा कर चलते हैं। बुद्धिजीवियों की कठोर-हृदयता को अपने जीवन का लंबा दुःस्वप्न मान कर त्रस्त रहे गांधी से भी आधुनिकतावादी-प्रगतिशील बुद्धिजीवी आंख चुराते रहे हैं। इस लेख में किशन पटनायक के चिंतन के इसी आयाम को प्रस्तुत करने का प्रयास है। प्रारंभिक होने के

नाते लेख उद्धरण बहुल है, ताकि विषय को स्पष्टता से और सीधे किशन पटनायक के नजरिए से प्रस्तुत किया जा सके।

2

उनकी पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया : सभ्यता, समाज और बुद्धिजीवी की स्थिति पर कुछ विचार' में बुद्धिजीवी-वर्ग का विस्तार से विश्लेषण और मूल्यांकन मिलता है। अपनी पुस्तक में किशन पटनायक ने भारत के वर्तमान बुद्धिजीवी-वर्ग की स्थिति का विस्तृत खाका खींचा है। उनकी पहली स्थापना यह है कि बुद्धिजीवी-वर्ग ही समाज में नियामक की भूमिका निभाता है। इसे वे प्रत्येक युग के लिए सत्य मानते हैं। तात्कालिक के अलावा लंबे समय तक मनुष्य की चेतना में बनी रहने वाली अपेक्षाकृत दीर्घावधि धारणाओं - धर्म, ईश्वर, जीवन, जगत, प्रकृति, वस्तु, समय, समाज, शिक्षा, संस्कृति, भविष्य आदि का निर्माण और व्याख्या-पुनर्व्याख्या भी बुद्धिजीवी-वर्ग ही करता है। दूसरी अप्रिय किंतु सही स्थापना यह है कि भारत का ज्यादातर बौद्धिक कर्म गुलाम और बिकाऊ मानसिकता की उपज है। उनकी यह स्थापना गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्य-पंक्ति "बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास" का विस्तार लगती है। इस स्थापना के मद्देनजर वे दुनिया के विकासशील और विकसित देशों के बुद्धिजीवी-वर्ग की स्थिति पर भी विचार करते हैं।

किशन पटनायक आधुनिक सभ्यता के संकट के आधारभूत प्रश्न को बुद्धिजीवी-वर्ग की भूमिका के साथ जोड़ कर उठाते हैं। इसे समझने के लिए उनका एक उद्धरण देना मुनासिब होगाः ''हमारे विचार-अनुसंधान में आधुनिक सभ्यता का संकट एक आधारभूत प्रश्न है। पारंपरिक मार्क्सवाद के लिए यह मुद्दा महत्वपूर्ण नहीं है। उनके अनुसार आधुनिक टेक्नॉलॉजी आधुनिकता की रीढ़ है और वह पूंजीवाद को भी उसका गौरव प्रदान करती है।...

"नए यांत्रिक चमत्कारों से आप अभिभूत हैं तो आपको कहना पड़ेगा कि हम भी उसके प्रभामंडल की परिधि में रह कर अपने जीवन को समृद्ध और धन्य करें। जो लोग इस उद्दीप्त मंडल के बाहर फेंक दिए जाते हैं, उनके बारे में यह कहना ही होगा कि वे अयोग्य हैं तो भाड़ में जाएं। यह एक नया उद्घोष है और उच्च शिक्षित समूहों में लोकप्रिय हुआ है। यह उद्घोष बार-बार सुनने को मिल रहा है और बुद्धिजीवियों के बीच बहस और गुरु-गंभीर सेमिनारी बहसों में इस रुख का इजहार हो जाता है। इसको अब नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे राष्ट्र-निर्माण की बहसों में लाकर इसकी जांच करनी होगी। क्या यह हमारा मान्य मत हो सकता है कि जनसंख्या का इतना हिस्सा उच्छिष्ट और परिहार्य है, जिनके विकास या अविकास को समाज के विकास की कसौटी न माना जाए। यह एक निष्ठुर प्रश्न होगा, इसका सटीक उत्तर आवश्यक है। यंत्रों द्वारा फेंके गए मनुष्यों का समाज में क्या स्थान होगा, उनको मनुष्य-समाज में क्या समझा जाए और उसके साथ कैसा बरताव किया जाए? समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र के लोगों को और सभी बुद्धिजीवियों को जो सामाजिक नीतियां बनाते हैं, इन निष्ठुर प्रश्नों पर अपनी स्पष्ट राय देनी होगी।''

किशन पटनायक के बुद्धिजीवी-वर्ग पर प्रस्तुत विचारों से प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तक के बच कर चलने का एक कारण यह भी है कि वे अक्सर इन निष्ठुर प्रश्नों से भी बच कर चलते हैं। आधुनिक सभ्यता की टेक्नॉलॉजी और विकास पर घुमा-फिराकर उनके तर्क वही होते हैं जो उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद-वैश्वीकरणवाद के घोषित समर्थक बुद्धिजीवियों द्वारा दिए और प्रचारित किए जाते हैं। आधुनिक विकास में विदेशी पूंजी और विदेशी टेक्नॉलॉजी केवल वस्तुएं नहीं है। वे आर्थिक उपनिवेशीकरण की मजबूत और सर्वग्राही धारणाएं हैं। उनके तहत उपनिवेशीकरण देशों का भी होता है और देशों के भीतर भी। प्रगतिशील बुद्धिजीवी विदेशी पूंजी और टेक्नॉलॉजी को देश के विकास के लिए जरूरी मानते हैं। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस विकास में भारत की बहुत बड़ी आबादी का कोई हिस्सा नहीं होता। लिहाजा, ऊपरी तबकों के विकास के उच्छिष्ट पर जनसाधारण के जीवन-निर्वाह या यह संक्रमण काल है, भविष्य में सब कुछ सबके लिए हो जाएगा, जैसे तर्कों की संस्तुति कम से कम प्रगतिशील बुद्धिजीवियों द्वारा नहीं होनी चाहिए। लेकिन अक्सर होता यही है।

आर्थिक उपनिवेशीकरण की वर्चस्ववादी धारणाएं रहेंगी, तो आर्थिक समता की विकेंद्रीकरणवादी धारणाओं के सृजन और पल्ल्वन के लिए जगह बचेगी ही नहीं। नया शास्त्र बन ही नहीं पाएगा। साठ के दशक के अंत तक अपनी उपस्थिति दर्ज कराने वाला धारणाओं का संघर्ष अगर समाप्तप्राय: हो गया है, तो उसके पीछे नेताओं की नहीं, भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की प्रमुख भूमिका है।

किशन पटनायक लिखते हैं: ''समाज की सारी गति और दुर्गति के लिए बुद्धिजीवी उत्तरदायी है। भारत की समृद्धि हो रही है, तो भारत का बुद्धिजीवी प्रशंसा का पात्र है, भारत की दुर्गति हो रही है तो निंदा का। यह किसी व्यक्ति-विशेष का मूल्यांकन नहीं है। हरेक राष्ट्र का एक बुद्धिजीवी-समूह होता है। बुद्धिजीवी का एक वर्ग के रूप में मूल्यांकन किसी लेखक, पत्रकार या वैज्ञानिक के मूल्यांकन से ज्यादा जरूरी है। विभिन्न समाजों के इतिहास में अंधकार-युग के नाम से एक अध्याय आता है। संभवतः यह अंधकार युग उनके पहले वाले समय के बुद्धिजीवी-समूह के लुच्चेपन का परिणाम है। हमारे समय के बुद्धिजीवी को इसी तरह के कटघरे में खड़ा करना होगा। जो यह मानते हैं कि अयोग्य लोग भाड़ में जा रहे हैं तो जाएं, लेकिन वे कह कर तो देखें - अपनी बात को शास्त्रीय भाषा में बोलने की कोशिश तो करें।''

यहां किशन पटनायक भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग पर तल्ख टिप्पणी करते हैं। वे देश के उन गिनती के लोगों में हैं, जिन्होंने आधुनिक सभ्यता के नए अवतार वैश्वीकरण के चलते देश की गुलामी के खतरे को सत्तर के दशक में ही पहचाना और लगातार उसके मुकाबले के लिए जमीनी और वैचारिक संघर्ष किया। अगर संकट देश की आजादी पर बन आया हो और देश का बुद्धिजीवी-वर्ग जाने-अनजाने उसमें सहायक हो रहा हो, तो तल्खी आ जाना स्वाभाविक है। उनका उपरोक्त कथन बगैर लाग-लपेट के यह सच्चाई सामने रखता है कि देश की आर्थिक,

राजनैतिक, सांस्कृतिक संप्रभुता पर आया संकट कल को हकीकत बनता है, तो उसके लिए आज के बुद्धिजीवी वर्ग का 'लुच्चापन' जिम्मेदार होगा।

किशन पटनायक बुद्धिजीवी को एक व्यक्ति मानने की धारणा से असहमति व्यक्त करते हुए उसे एक नियामक-वर्ग के रूप में समाज का अंग मानते हैं। उनका कहना है कि समाज का परिचालन कुछ धारणाओं के जरिए होता है, और धारणाएं बनाने का काम समाज का बुद्धिजीवी-वर्ग करता है। वह या तो प्रचलित धारणाओं को पुष्ट करता है या नई धारणाएं निर्मित कर उनका प्रसार करता है। बुद्धिजीवी-वर्ग द्वारा निर्मित धारणाओं से ही समाज के सामान्य नागरिकों की चेतना निर्धारित और नियंत्रित होती है। सामान्य नागरिकों के विवेक और आवेग का कुंठा या उत्साह में तब्दील होना भी इस पर निर्भर करता है कि बुद्धिजीवी-वर्ग कब किस रूप में अपनी भूमिका निभाता है।

वे लिखते हैं: ''आम आदमी शास्त्र नहीं बना सकता है। शास्त्र की व्याख्या भी नहीं कर पाता है। जो लोग करते हैं उन्हीं के हाथ में समाज का 'आत्म-नियंत्रण' रहता है। समाज का नियंत्रण इसी तरह बुद्धिजीवी-समूह द्वारा होता है। कलाकार, साहित्यिक शास्त्रों के व्याख्याकार, समालोचक, टिप्पणीकार आदि मिल कर जनसाधारण के विचार और भावनाओं को बनाते हैं। किसी समय का यही सामाजिक दिमाग और सामूहिक चरित्र होता है। बुद्धिजीवी-वर्ग की आम सहमति से ही जनसाधारण के लिए, आम आदमी के लिए शब्दों का अर्थ पैदा होता है। जीवन स्तर क्या है? गरीबी क्या है? विकास क्या है? विवाद क्या है? अतिक्रमण क्या है? आक्रमण क्या है? इसका निर्धारण बुद्धिजीवी-वर्ग करता है। बुद्धिजीवी समूहों द्वारा किया गया निर्धारण अगर आम आदमी के रुझान के अनुकूल होता है, तो सर्वसाधारण उत्साह के साथ उन मूल्यों को ग्रहण करता है। अगर उसके विवेक-बुद्धि के प्रतिकूल होता है, तो भी नए मूल्यों को ग्रहण किया जाता है। इससे जनसाधारण का मन कुंठित हो जाता है। जिसको हम उदासीनता या प्रतिगामिता कहते हैं, शायद वह इसी स्थिति का परिणाम है।''

किसी भी स्थिति का निर्माण या उसे बदलने का काम इक्के-दुक्के बुद्धिजीवियों, दार्शनिकों या लेखकों द्वारा नहीं हो सकता। वह कई स्तरों के बुद्धिजीवी समूहों की एकजुटता का परिणाम होता है। इस रूप में वे लेखक-कलाकारों से लेकर वकीलों, प्रशासनिक अधिकारियों, प्रबंधकों आदि, जो अपनी योग्यता के दावे की बदौलत उस काम को अंजाम देते हैं, सभी को बुद्धिजीवी-वर्ग में शामिल मानते हैं। आशय यह कि मानव-सभ्यता के इतिहास में जो भी मूल्य-मान्यताएं बनती हैं और उसके चलते जो भी स्याह-सफेद होता है, उसके मूल में बुद्धिजीवी-वर्ग की भूमिका होती है। इसी जमीन से किशन पटनायक विशेषतः भारतीय और सामान्यतः दुनिया के बुद्धिजीवी-वर्ग की स्थिति पर विचार करते हैं।

उनका मानना है कि पहले भी और आज भी समाज में पाए जाने वाले विषमता और अनैतिकता के विभिन्न रूपों के लिए समाज- नियामक बुद्धिजीवी-वर्ग ही जिम्मेदार है। किशन पटनायक

की इस स्थापना में मानव-सभ्यता के इतिहास को समझने की एक नई दृष्टि प्रस्तावित होती हैः ''जिस देश का बुद्धिजीवी जितना प्रतिगामी है, उस देश का आदमी उतना जड़ और उदासीन होगा। पतन और पराजय के युगों का विश्लेषण शायद इसी से ही हो सकेगा। इसी के अध्ययन से एक शास्त्र बन सकता है और ऐसे शास्त्रीय नियम बनाए जा सकते हैं जिनके तहत मौजूदा समाजों के बुद्धिजीवी-वर्ग का मूल्यांकन हो सकेगा और उसको जिम्मेदार बनाया जा सकता है। बुद्धिजीवी-वर्ग की आत्म-समीक्षा के लिए, उसके दायित्व बोध को समझने के लिए कसौटियां भी बन जाएंगी। कला और साहित्य की भी सामाजिक समीक्षा हो सकेगी।''

किशन पटनायक अतीत और वर्तमान, भारत और दुनिया के कई तरह के उदाहरण देकर बुद्धिजीवी-वर्ग की नियामकता को रेखांकित करते हैं। आधुनिक काल में विशेषकर औपनिवेशिक गुलामी में रह चुके विकासशील देशों में सामान्य नागरिक और बुद्धिजीवी-वर्ग के बीच अत्यधिक आर्थिक गैर-बराबरी, भारी निरक्षरता और विदेशी भाषा के वर्चस्व के कारण गहरी विभाजक-रेखा होने के चलते वे मानते हैं कि बुद्धिजीवी-समूह सामान्य नागरिक की धारणाओं को ज्यादा मौजी अंदाज में प्रभावित करता है। ''भारत तेजी से बढ़ रहा है। अफ्रीका के लोग अमरीकी गोरों से कम योग्यता वाले हैं तो उन्होंने कभी भी इन धारणाओं को बनाया नहीं है। अपनाया भी नहीं है। उसके मानस में ये धारणाएं प्रवेश कर गई हैं, क्योंकि बुद्धिजीवी समाज इन धारणाओं को या तो बनाता है या अपनाता है।'' सामान्य नागरिक और बुद्धिजीवी के बीच का विभाजन उतनी बड़ी समस्या नहीं है, जितनी यह कि भारत के बुद्धिजीवी का दिमाग गुलाम है, और गुलाम दिमाग की धारणाएं जनसाधारण के लिए और अजनबी और अवास्तविक बनी रहती हैं। किशन पटनायक औपनिवेशिक दौर और उसके बाद के अनुभव को लेकर बनाई गई ऐसी धारणाओं की लंबी सूची गिनाते हैं, जिन्हें भारत के बुद्धिजीवी वर्ग ने जनसाधारण की सोच का हिस्सा बना दिया है।

इस दृष्टि से उनका लेख 'गुलाम दिमाग का छेद' अत्यंत उद्घाटक है। वे लिखते हैं: ''हमारे जितने राष्ट्रीय बुद्धिजीवी हैं (जिस तरह से अंगरेजी अखबारों को राष्ट्रीय अखबार कहा जाता है, उसी तरह कुछ अंगरेजी वाले बुद्धिजीवियों को राष्ट्रीय बुद्धिजीवी कहा जाता है) उनमें कुछ अपवादों को छोड़ कर किसी ने यह नहीं माना है कि 1757 के प्लासी युद्ध में पराजय के कारण भारत बर्बाद हो गया, उसकी अपूरणीय क्षति हुई। 'आजादी खोना बुरी बात है लेकिन...' लेकिन के लहजे में भारत का बुद्धिजीवी ऐसी बातें कहने लगेगा मानो आजादी खोना कोई पछतावे की बात नहीं है, उसकी कीमत पर हमने इतना सारा फायदा हासिल किया है कि हमें तो अंगरेजों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। भारत के कितने अंगरेजी लिखने-बोलने वाले बुद्धिजीवी हैं जो भारत के आधुनिकीकरण के लिए अंगरेजी हुकूमत को श्रेय नहीं देते?

"1857 की असफल क्रांति के बारे में हमारे कुछ प्रसिद्ध इतिहासकारों ने लिख दिया है कि जो हुआ वह अच्छा ही हुआ। अगर 1857 की क्रांति सफल हो जाती तो भारत अज्ञान के अंधकार और अंधविश्वास के गर्त में डूबा रह जाता। ऐसा मानने वालों के मस्तिष्क के बारे में सोचना

पड़ेगा। प्रश्न यह है कि कहीं उनके मस्तिष्क में कोई छेद तो नहीं हो गया है, अन्यथा सामने पड़े हुए तथ्यों को वे कैसे नजरअंदाज कर देते हैं।''

माओ की बात मान कर चीन के बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा देश के आर्थिक विकास की बुनियाद डालने के उद्देश्य से आधुनिक उपभोक्तावादी जीवन-शैली से लंबे समय तक दूर रहने के लिए तैयार हो गया, जबकि भारत के बुद्धिजीवियों ने इस बाबत गांधी की बात नहीं स्वीकार की। ''उसे लगा कि अगर निजी मोटरगाड़ी और अत्याधुनिक भोग की वस्तुएं उपलब्ध नहीं होंगी तो यह गंवार और अवैज्ञानिक समझ लिया जाएगा।'' हम सभी जानते हैं कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत के अंगरेजीदां बुद्धिजीवियों ने सरकारी धन से इंडिया इंटरनेशनल सेंटर (आईआईसी) जैसे द्वीप अपने लिए कायम किए। शिक्षा और शोध की उच्च संस्थाओं में अपने लिए आलीशान ढंग की सुख-सुविधाएं हासिल कीं। भारत की जनता की गाढ़ी कमाई खाकर ही उसकी तृप्ति नहीं हुई; उसने विदेशी धन भी खूब खाया है। भाषायी बुद्धिजीवी भी मौका लगते ही इस सब में हाथ मार लेते हैं। भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा धन के बदले बुद्धि बेचने की इस प्रवृत्ति पर आगे चर्चा की गई है।

लेख में गुलामी की प्रवृत्ति का एक उदाहरण चीन के संदर्भ में ही दिया गया है: ''इन दिनों भारत का औसत बुद्धिजीवी यह कहता हुआ सुनाई देता है, 'चीन ने उदारीकरण मान लिया हम कैसे नहीं मानेंगे।' यानी हम चीन से ज्यादा साहसिक और समझदार नहीं हो सकते। चीन का तर्क देने वाला इस बात को बिल्कुल भूल जाता है कि चीन ने अपने ऊपर विदेशी कर्ज का पहाड़ नहीं खड़ा कर रखा है। इसलिए विदेशी पूंजी आते ही विदेशी दबाव के सामने चीन झुकेगा नहीं।''

किशन पटनायक ने चीन और जापान का हवाला भारतीय बुद्धिजीवियों की दिमागी गुलामी और लालची मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए दिया है। वहां के आधुनिक विकास की स्वीकार्यता के लिए नहीं। वे बुद्धिजीवी-वर्ग की गुलामी के रोग की जड़ स्वतंत्रता आंदोलन में खोजते हैं, और पाते हैं कि उस दौर में राजनैतिक दासता की काट पर ही सारे नेताओं का जोर था। केवल गांधी ही यह सोच पा रहे थे कि बौद्धिक और आर्थिक दासता की काट किए गए बगैर हासिल की जाने वाली राजनैतिक आजादी काम की नहीं रह जाएगी। बहरहाल, लेख में आगे यह बताया गया है कि इधर भारत में वैकल्पिक उपायों का अनुसंधान करने और उपदेश देने वाले लोगों की प्रेरणा एशियायी या भारतीय अनुभव न होकर यूरोप का पर्यावरण आंदोलन है। इस दिशा में विदेशी धन लेकर काम करने वाले ज्यादातर एनजीओं को वे हास्यास्पद और क्रूर मजाक की संज्ञा देते हैं।

आधुनिक सभ्यता के बौद्धिक प्रतिष्ठान का यह अभूतपूर्व कमाल कहा जाएगा कि उसकी औपनिवेशिक गुलामी में रहे देशों के बुद्धिजीवी-वर्ग को उसने गुलामी को लत इस कदर लगा दी है कि वह न केवल गुलामी में सुरक्षित अनुभव करता है, उसकी आधुनिकता भी गुलामी से

प्रमाणित होती है। दूसरे शब्दों में, गुलामी उसे गैर- आधुनिक कहलाने के भय से बचाए रखती है। साथ ही गैर-आधुनिक होने के साथ जुड़ी कठिन चुनौती से भी। क्योंकि गैर-आधुनिक होने पर उसे वैकल्पिक सभ्यता का नया शास्त्र तैयार करने का कठिन काम अंजाम देना होगा। दरअसल, गुलाम दिमाग कोई भी कठिन काम करने और कठोर निर्णय लेने में रस और तृप्ति का अनुभव करने की योग्यता गंवा बैठता है।

किशन पटनायक जब कहते हैं कि हम एक शास्त्रविहीन-विचारविहीन युग में प्रवेश कर गए हैं, तो आशय यही होता है कि आधुनिक सभ्यता की बौद्धिक गुलामी के चलते वास्तविक वैकल्पिक शास्त्र-निर्माण की संभावनाएं अवरुद्ध पड़ गई हैं। वे लिखते हैं: "1950 में ज्ञान-केंद्र का जो महाद्वीपीय स्थानांतरण हुआ, उसका एक जबरदस्त विकल्प उन दिनों था। 1945 में अमरीका पश्चिम का चक्रवर्ती घोषित हुआ। उसी कालखंड में एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के एक सौ देश राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर रहे थे। मनुष्य की गरिमा बढ़ाने वाले जिन राष्ट्रीय आंदोलनों से इतनी बड़ी मानवता का राजनैतिक पुनरुत्थान हुआ, उसमें एक बौद्धिक पुनरुत्थान की भी संभावना थी। उपर्युक्त तीनों महाद्वीपों के विशिष्ट-वर्ग ने सोचा कि पश्चिम के बने-बनाए शास्त्रों के बल पर सारी मानव-जाति का कल्याण हो सकता है। अतः नया ज्ञान पैदा करने का बीड़ा उठाना जरूरी नहीं है। इन तीनों महाद्वीपों के अश्वेत बुद्विजीवियों के इस ऐतिहासिक पलायन से पश्चिम का वैचारिक वर्चस्व अमरीका के जरिए पुनः स्थापित हो गया। पश्चिमी शास्त्रों का यह अमरीकी संस्करण पहले से ज्यादा अनुपयोगी है। अब मनुष्य जाति को एक शास्त्र-विहीन [विचार-विहीन] युग में ढकेला जा रहा है। हम इक्कीसवीं सदी के आरंभ में अज्ञान के युग में प्रवेश कर रहे हैं। अभी से इस बात को समझ जाएं तो बीस-तीस साल में उससे उबर भी जाएंगे।''

उबरने के लिए वे पहला कदम यह मानते हैं कि बुद्धिजीवी-वर्ग इस बारे में सचेत हो कि उसकी विचार-बुद्धि और इच्छाएं गुलामी से प्रभावित हैं। किशन पटनायक आधुनिक सभ्यता, उसकी टेक्नॉलॉजी और विकास-पद्धति के खिलाफ पीछे लौटने यानी गैर-आधुनिक होने का साहस दिखाते हैं। 'गुलाम दिमाग का छेद' लेख के अंत में उनका कहना है: ''आधुनिक विकास-पद्धति का विकल्प गैर-आधुनिक ही होगा। गैर-आधुनिक का मतलब है पीछे चलना। गुलामी के अभ्यस्त दिमाग को गैर-आधुनिक होने की बात से डर लगता है। इससे घबराहट होती है कि कोई कह देगा कि तुम देश को पीछे ले जाना चाहते हो। यह आरोप सुन कर बड़े से बड़े गांधीवादी और भारतीयतावादी अपनी बात कहते-कहते कुछ देर रुक जाते हैं।'' देशीय चिंतन के निर्माण में लगने वाली बुद्धि की विमुक्ति के मार्ग में झिझक एक बड़ी बाधा है। गांधी की बुद्धि इसमें नहीं झिझकती। ''गांधी के 'हिंद स्वराज्य' की खूबी ही यह थी कि उसमें झिझक या हिचक नहीं थी। 'हिंद स्वराज्य' भारत को अठारहवीं सदी में ले जाने का एक आह्वान था, ताकि गुलामी से पहले वाली स्थिति में खड़े होकर हम अपनी नई यात्रा शुरू करें। पीछे ले जाने का आरोप लगाने वाले वाकई महामूर्ख होते हैं, क्योंकि समय के बारे में उनका जो अपना दर्शन है (सरल रैखिक

समय) उसमें पीछे जाना कभी होता ही नहीं है। लोग पीछे न हटें, आगे बढ़ते जाएं, इसे पक्का और कानूनी बनाने के लिए डंकल का दस्तावेज आया है।''

एक जगह भारत में विदेशी मीडिया के प्रवेश के सवाल पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं: ''यह बात तो तब से मालूम थी जब डंकल प्रस्ताव के बारे में चर्चा शुरू हुई। खलबली अभी क्यों मच रही है? ... विदेशी पत्र-पत्रिकाएं और समाचार एजेंसियां क्यों नहीं आएंगी, कैसे नहीं आएंगी? हरेक भारतीय पर 6000 रुपये का विदेशी कर्ज है। विदेशियों को भारत की खदानों की मिल्कियत देने वाला कानून बन चुका है। समुद्र की मत्स्य-संपदा पर विदेशियों का अधिकार हो गया है। विदेशी पैसे की मेहरबानी से पेड़ लग रहे हैं। हमारे खेतों के बीजों पर उनका नियंत्रण शीघ्र होने वाला है। हमारे मनोरंजन का संचालन उन्हीं को करना पड़ रहा है तो हमें सूचना देने और आधुनिकतम विचारों से परिचित कराने का काम वे नहीं करेंगे तो कौन करेगा?''

गौर करने की बात है कि किशन पटनायक की अठारहवीं शताब्दी की ओर देखने वाली दृष्टि डंकल दस्तावेज के भारत के ठेठ वर्तमान और सुदूर भविष्य पर पड़ने वाले आपदायी दुष्परिणामों को साफ-साफ देख लेती है, और भारत का ज्यादातर बुद्धिजीवी समुदाय आधुनिक सभ्यता के मायाजाल में ही चक्कर काटता रह जाता है।

3

दिमागी गुलामी के अलावा किशन पटनायक के मुताबिक बुद्धिजीवी-वर्ग की दूसरी प्रवृत्ति धन और सुविधाओं के बदले अपनी बुद्धि को बेचने की है। बुद्धिजीवी-वर्ग के ऊपर बुद्धि को बेचने का दबाव बाजारवाद के चलते पैदा होता है। पहले से ही गुलाम दिमाग पर जब बाजारवाद का दबाव पड़ता है, तो वह आसानी से अपनी बुद्धि को उसके हवाले करने को तैयार हो जाता है। इस तरह विकासशील देशों का बुद्धिजीवी-वर्ग दोहरी पराधीनता की जद में आ जाता है। औपनिवेशिक गुलामी के कारण जहां बौद्धिक कमजोरी आती है, वहीं बाजारवाद की गुलामी से बुद्धि का विकृतिकरण होता है।

बौद्धिक समूहों को मुख्यतः पत्रकारिता, शिक्षा, उच्च अध्ययन, साहित्य और धार्मिक विमर्श में समाहित किया जा सकता है। इन सभी समूहों पर बाजारवाद का गहरा दबाव लक्षित किया जा सकता है। विशेषकर पत्रकारिता, शिक्षा और उच्च अध्ययन पर। हालांकि साहित्य और धार्मिक विमर्श भी उसकी चपेट से अछूते नहीं है।

पुस्तक का एक लेख 'प्रोफेसर से तमाशगीर' अपनी रोचकता के लिए ध्यान आकर्षित करता है। इस लेख में विश्व-प्रसिद्ध दिल्ली विश्वविद्यालय के दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स के प्रोफेसर प्रणय राय, जो वहां अच्छी तनख्वाह पाते थे और प्रगतिशील रुझान के माने जाते थे, की कहानी की मार्फत भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग की धन और शोहरत की खातिर बुद्धि बेचने की सामान्य प्रवृत्ति को दर्शाया गया है। प्रणव राय अपना शिक्षा का पेशा छोड़ कर प्रचुर धन की हवस और इलैक्ट्रोनिक मीडिया की चकाचौंध के वशीभूत पहले दूरदर्शन के कार्यक्रम निर्माता

बनते हैं। वहां पचीस-तीस लाख की सालाना कमाई करके अपनी निजी टेलीविजन कंपनी के मालिक बन जाते हैं।

28 फरवरी 1994 को प्रस्तुत वित्तमंत्री मनमोहन सिंह के बजट के प्रणव राय द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम का हवाला देकर किशन पटनायक बताते हैं कि कैसे नई आर्थिक नीतियां, इलैक्ट्रानिक मीडिया और बुद्धिजीवी एकजुट होकर देश के करोड़ों साधारण लोगों को अपने ही देश में अप्रासंगिक बना देते हैं। भारतीय बुद्धिजीवी की इस स्थिति पर लिखी गई कुछ पंक्तियां देखी जा सकती है: ''बहुराष्ट्रीय कंपनियां उसको काफी धन देकर उसकी मेधा का इस्तेमाल करने के लिए होड़ लगाती हैं। इस बात की होशियारी बरती जाती है कि उसे यह पता न चले कि वह एक बिकाऊ माल है, इसलिए उसे ऐसे काम में लगाया जाता है जिसमें उसे यह आभास हो कि वह चमत्कारी ढंग से एक बौद्धिक कार्य में लगा हुआ है।'' कहना न होगा कि अनेकानेक एनजीओ और उच्च अध्ययन और शोध के संस्थानों में विदेशी धन लेकर बौद्धिक- कर्म संपन्न करने वालों की भारत साहित सभी विकासशील देशों में भारी तादाद है। भारत के प्रगतिशील बुद्धिजीवी उन गिने-चुने बुद्धिजीवियों की कड़ी भर्त्सना और अवमानना करते हैं, जो संघ परिवार का एजेंडा लागू करते हैं। लेकिन अपने गिरेबां में नहीं झांकते कि उनका अपना कर्म साम्राज्यवादी एजेंडा के तहत संचालित है!

बुद्धि बेच कर कमाई करने का चलन केवल उच्च अध्येता होने का सही-गलत नाम पाए बुद्धिजीवी ही नहीं करते, उदारीकरण-वैश्वीकरण के दौर में पत्रकार और संपादक भी ऊंचे दामों पर अपनी बुद्धि का सौदा कर रहे हैं। 'प्रतिक्रांति और पत्रकारिता' लेख में किशन पटनायक लिखते हैं: ''... सिरमौर पत्रिकाओं के मुख्य लेखकों और संपादकों को प्रतिमाह 50,000 से एक लाख रुपये तक की रकम मिलने लगी है ताकि अभिव्यक्ति कुशल लेखक अपने को खुशी-खुशी बेच सकें। नई आर्थिक व्यवस्था विचारों के विकृतिकरण के लिए माहिर और नामी लेखकों को उतना पैसा दे सकती है, जितना सुंदर औरतों को अंगों के अश्लील प्रदर्शन के लिए देती है।'' इन माहिर और नामी लेखकों से कोई भारतीय भाषा की लघु पत्रिका लेख मांगे तो वे कभी नहीं देते। कुछ लघु पत्रिकाओं की नियति भी यह हो गई है कि वे अंगरेजी के विद्वानों के लेखों का अनुवाद छापने में जुटी रहती है।

हिंदी के मशहूर कवि गजानन माधव मुक्तिबोध ने साठ के दशक में लिखी गई अपनी अत्यंत महत्वपूर्ण कविता 'अंधेरे में' में लिखा था - "बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास, किराए के विचारों का उद्भास"। क्रीतदास में गुलाम और बिका हुआ दोनों अर्थ समाहित हैं। किशन पटनायक की तरह मुक्तिबोध भी बुद्धिजीवी-वर्ग में उन सभी को शामिल करते हैं जो अपनी योग्यता के दावे पर सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाते हैं। मुक्तिबोध इस समूह की देश को अंधेरे में ले जाने वाली भूमिका को पहचान लेते हैं, और आतंकित हो उठते हैं: "विचित्र प्रोसेशन/गंभीर/क्विक मार्च.../चमकदार बैंड-दल.../... बैंड के लोगों के चेहरे/ मिलते हैं मेरे देखे हुओं-से/लगता है उनमें कई प्रतिष्ठित पत्रकार/इसी नगर के!!/ ...

कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल/ कई और सेनापति सेनाध्यक्ष/ चेहरे वे मेरे जाने-बूझे-से लगते/ उनके चित्र समाचार पत्रों में छपे थे,/ उनके लेख देखे थे/ यहां तक कि कविताएं पढ़ी थीं/ भई वाह/ उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण/मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान/ यहां तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात/डोमाजी उस्ताद''।

सुना है किशन पटनायक ने बहुत पहले शायद 'कल्पना' में मुक्तिबोध की 'अेधेरे में' कविता पर एक समीक्षा लिखी थी। वह आजकल अनुपलब्ध है। इसलिए हम उसे देख नहीं पाए हैं। कह सकते हैं कि किशन पटनायक का 'अंधेरे में' कविता की तरफ आकर्षित होना उसमें बुद्धिजीवी की स्थिति पर किया गया गंभीर विचार कारण हो सकता है।

पहले औपनिवेशीकरण और इधर वैश्वीकरण के प्रभावों के कारण बनी पराधीनता की स्थिति को लेकर भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में ग्लानि-बोध का अभाव मिलता है। ऐसा ग्लानी-बोध जिसके भीतर से पराधीनता की स्थिति से एकबारगी और हमेशा के लिए उबरने की प्रेरणा और चेतना पैदा हो। इस दिशा में जो कुछ बुद्धिजीवी फू-फां करते पाए जाते हैं, वे जल्दी ही संकीर्णतावाद की अंधी गली में चले जाते हैं। इस तरह की बुद्धि का किशन पटनायक ने नोटिस नहीं लिया है। उनका मानना है कि जिस बेरहमी से हम आधुनिक विज्ञान की समीक्षा करते हैं, उसी बेरहमी से हिंदू धर्म और संस्कृति की बुराइयों को चिन्हित करने या बहिष्कार करने की जरूरत है। वे अपनी दस्तक वहीं देते हैं, जहां देशीय चिंतन-धारा के सृजन और विकास की संभावनाएं हैं। "मृत बुद्धि" उनकी चिंता में नहीं आती। उनकी चिंता "जागृत बुद्धि" को लेकर है। जो कई बार तो मृत-बुद्धि से ही मात खाने लगती है। ऐसे में संदेह होने लगता है कि क्या कभी भारत की जागृत-बुद्धि आधुनिक बौद्धिक प्रतिष्ठान के बरक्स अपनी स्वतंत्रता अर्जित और स्थापित कर पाएगी? कहना न होगा कि जागृत-बुद्धि का निधान वे दलित, आदिवासी और पिछड़े समूहों और आधुनिक विकास और वैश्वीकरण की मुहिम के खिलाफ लोकतांत्रिक पद्धति से संघर्षरत जनांदोलनकारी समूहों में देखते हैं। किशन पटनायक को बुद्धि के इस संभावनाशील हल्के की बद्धता और फिसलन पर सबसे ज्यादा चिंता होती है।

4

बुद्धिजीवी की पराधीनता के विरुद्ध चेतना काफी पुरानी है। मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पदमावत' में एक दरिद्र ब्राह्मण बाजार में बेचने के लिए लाए गए पिंजरे में बंद तोते के पास जाकर उससे पूछता है कि 'वह गुणवान है या कोरा निर्गुण'। अगर पंडित है तो वह उससे वेद सुनाने को कहता है। तोते का ब्राह्मण को अत्यंत मार्मिक जवाब है: *''तब गुन मोहि अहा हो देवा। जब पिंजर हुत छूट परेवा।। अब गुन कौन जो बंद जजमाना। घालि मंजूषा बेचै आना।। पंडित होई सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाय भूलि गा पढ़ा।।''* - 'यजमान, जब मेरा जीव पिंजरे में बंद नहीं था तब मैं ज्ञानी था, अब तो मैं बंदी हूं और पिंजरे में बंद कर यहां बाजार में बेचा जा रहा हूं। पंडित वही है जो बाजार में बिकने के लिए नहीं चढ़ा। मैं तो बेचा जा रहा हूं। इसलिए सारा ज्ञान भूल गया हूं।'

इसके आगे की पंक्तियों का अर्थ है - 'मैं क्या बताऊं, ऐसी स्थिति में रोते-रोते मेरा मुंह लाल और गात पीला हो गया है। मैंने पहचान लिया है कि गले की लाल और काली दो धारियां पड़े हुए फंदे हैं, जिनसे मैं भयभीत हो गया हूं। पता नहीं ये फंदे मेरे साथ क्या करना चाहते हैं? बहुत पढ़ने-गुनने के बावजूद मुझे आगे यही डर खाये जा रहा है। मैं अपनी बुद्धि खो चुका हूं और मुझे सारा जगत धुंधमय प्रतीत हो रहा है।' तोता यहां बुद्धिजीवी का प्रतीक है। पूरे प्रसंग का मर्म यही है कि पराधीन हो बिकने वाला ज्ञानी अपना बौद्धिक व्यक्तित्व गंवा बैठता है। उसका ज्ञान खो जाता है। यहां ध्यान दिया जा सकता है कि बंदी होने और बाजार में बेचे जाने की अपनी स्थिति को तोता न केवल पहचानता और स्वीकार करता है, वैसी स्थिति से उबरने की उसमें गहरी बेचैनी है। जैसा कि पीछे किशन पटनायक के हवाले से कहा गया है - भारत के बुद्धिजीवी-वर्ग में पराधीनता और बिकने की स्थिति को लेकर जब तक चेतना नहीं होगी, तब तक उसकी स्थिति बदल नहीं सकती। लेकिन वह गुलामी और बिकाऊपन में इस कदर चिर (हमेशा के लिए स्थिर) है कि उसे अपनी वैसी स्थिति को लेकर कोई ग्लानि नहीं होती। पिछले दिनों भारतीय बुद्धिजीवियों ने एक अत्यंत शर्मनाक नजारा पेश किया। उनमें से कुछ अटल बिहारी वाजपेयी के चारण बन गए तो कुछ सोनिया गांधी के चाटुकार। उनमें केवल संघी और कांग्रेसी ही नहीं, गांधीवादी, मार्क्सवादी, समाजवादी सभी छाईं (शेड) के बुद्धिजीवी शामिल हैं।

बुद्धिजीवी-वर्ग की आलोचना में किशन पटनायक काफी निर्मम हैं। लेकिन उसे ही वे समाज और सभ्यता का नियामक भी मानते हैं। लिहाजा, उनके चिंतन में यह आशा और प्रेरणा निहित है कि बुद्धिजीवी-वर्ग पराधीनता की स्थिति से उबर कर वास्तविक अर्थों में समाज के नियामक की भूमिका निभाएगा। देश और विदेश, जहां भी वैकल्पिक शास्त्र-निर्माण की संभावनाएं हैं, उनका किशन पटनायक स्वागत करते हैं। 'आधुनिक विज्ञान और तकनीक का दंभ' लेख में उन्होंने आशिष नंदी द्वारा संपादित पुस्तक 'साइंस हिजेमनी एंड वायलेंस' को वैकल्पिक शास्त्र-निर्माण की दिशा में एक घटना मानते हुए उसके लेखों में निहित संभावनाओं को रेखांकित किया है। हालांकि उन्होंने अपना ''पूर्वाग्रह'' भी व्यक्त कर दिया है कि ''आधुनिक विज्ञान की आलोचना के लिए कसौटी हिंसा न होकर, दारिद्रय या शोषण होनी चाहिए।''

इस लेख में ही उन्होंने वैकल्पिक उत्पादन-प्रणाली पर किए गए प्रो. प्रभाकर सिन्हा के शोध की प्रशंसा की है। बुद्धिजीवी की स्थिति पर विचार करते हुए वे सब जगह की और सब तरह की संभावनाओं का स्वागत करते हैं।

नोट: उपर्युक्त लेख में सभी उद्धरण/संदर्भ किशन पटनायक, 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया: सभ्यता, समाज और बुद्धिजीवी की स्थिति पर कुछ विचार', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000 पुस्तक से दिए गए हैं।

किशन पटनायक की अन्य पुस्तकें:

‘भारत शूद्रों का होगा’, दूसरा संस्करण, सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश, 2022

‘भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि: गतिरोध, संभावनाएं और चुनौतियां’, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2006

‘किसान आंदोलन: दशा और दिशा’, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009

‘किशन पटनायक: आत्म और कथ्य’, रोशनाई प्रकाशन, कांचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल, 2017

‘बदलाव की कसौटी’, सूत्रधार प्रकाशन, कांचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल, 2019